

पाठ्यपुस्तकों के बारे में यह आमतौर पर कहा जाता है कि वे शिक्षार्थियों में यथार्थ की समझ विकसित कर पाने में असफल रहती हैं। समाजशास्त्र पढ़ा व्यक्ति संभवतः सिद्धान्तों से अवगत हो लेकिन समाज में घट रही समसामयिक घटनाओं की समाजशास्त्रीय व्याख्या करने में सक्षम नहीं होता है। तमाम अन्य कारणों के साथ इसका एक कारण समाजशास्त्र का शिक्षाक्रम, पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें मानी जाती हैं। इन्हें देखकर समाजशास्त्र के शिक्षण के उद्देश्यों में के बारे में स्पष्टता का अभाव लगता है। समाजशास्त्र शिक्षण के उद्देश्य क्या हैं, ये दस्तावेज या तो ऐसे प्रश्नों पर मौन रहते हैं या ऐसी घिसी-पिटी भाषा का इस्तेमाल करते हैं जो कुछ भी कह पाने में सक्षम नहीं होती। यह लेख पाठ्यपुस्तकों पर एक परिप्रेक्ष्य के साथ गुजरात एवं राजस्थान में चल रही समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण करता है।

पाठ्यपुस्तकों से अभिव्यक्त होता सामाजिक विश्व

एक समाजशास्त्रीय दृष्टि

डॉ. राजीव गुप्ता

इस शोध आलेख को लिखने का प्रोत्साहन मुझे अपने एक वैचारिक मित्र सफदर हाशमी की एक कविता से मिला। सफदर हाशमी अपने सारे मित्रों को सदैव के लिए छोड़कर जा चुके हैं। मैं इस आलेख को सफदर को समर्पित कर रहा हूँ। समाज विज्ञानों का यह दुर्भाग्य है कि सफदर जैसे विचारकों का उल्लेख नहीं किया जाता क्योंकि पुस्तक, कविता, नुककड़ नाटक एवं प्रतिरोध की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली विभिन्न विधाओं की सामाजिक रूपान्तरण की प्रक्रिया में गम्भीर रूप से चर्चा नहीं की जाती। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में साहित्य का समाजशास्त्र, कला का समाजशास्त्र, (नवीन) शिक्षा का समाजशास्त्र, सामाजिक आंदोलन का समाजशास्त्र जैसी शाखाओं को अध्ययन हेतु सम्मिलित नहीं किया जाता क्योंकि प्रभुत्वशाली प्रकृति का सावयवी बुद्धिजीवी राजसत्ता से संबद्ध होकर यथास्थितिवादी संस्थागत संरचनाओं को निरन्तरता प्रदान करने को तत्पर है। समाज विज्ञानों का विवेचनात्मक चरित्र राजसत्ता को सदैव सहयोग देता

है क्योंकि समाज विज्ञानों का आलोचनात्मक चरित्र सदैव वैकल्पिक संरचनाओं को उत्पन्न करने की सम्भावनाओं को जन्म देता है जो राजसत्ता के लिए सदैव चुनौती उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। लेखक वर्तमान आलेख को प्रारम्भ करने की इस पृष्ठभूमि में सफदर की एक कविता का उल्लेख करना चाहेगा। यह कविता पुस्तक की सर्वाधिक उपयुक्त व्याख्या है और साथ ही पुस्तक के माध्यम से समाज में झांकने की एक व्यवस्थित कोशिश भी है। “किताबें/करती हैं बातें/बीते जमाने की/दुनिया की, इंसानों की/प्यार की, मार की/एक-एक पल की/खुशियों की, गमों की/फूलों की, बमों की/जीत की हार की/आज की, कल की/ क्या तुम नहीं सुनोगे/इन किताबों की बातें ?/किताबें, कुछ कहना चाहती हैं/तुम्हारे पास रहना चाहती हैं/किताबों में चिड़िया चह-चहाती हैं/किताबों में खेतियां लहलहाती हैं/किताबों में झरने गुनगुनाते हैं/परियों के किस्से सुनाते हैं/किताबों में रॉकेट का राज है/किताबों में साइंस की आवाज है/किताबों का कितना बड़ा संसार

लेखक परिचय

प्रोफेसर, समाज शास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (रिसर्च अवार्डी- विश्वविद्यालय अनुदान आयोग)

सम्पर्क

समाज शास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
109, मोहन नगर, गोपालपुरा बाईबास, जयपुर-18
ईमेल : gupta_rajiv123@rediffmail.com

है/किताबों में ज्ञान की भरमार है/क्या तुम इस संसार में/नहीं जाना चाहोगे ?/किताबें कुछ कहना चाहती हैं/तुम्हारे पास रहना चाहती हैं।” पुस्तकों एवं समाज के अन्तःसंबंधों पर केन्द्रित सफ़दर के विचार का विवेचन लेखक आप पर छोड़ता है।

I

समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों की चर्चा करने के पूर्व यह सवाल उठाया जाना आवश्यक है कि समाजशास्त्र क्या है ? लेखक की दृष्टि में मनुष्य के सृजन के विभिन्न पक्षों, जिनसे मनुष्य ‘मनुष्यता’ की अस्मिता बनता है, का वैज्ञानिक-तार्किक विश्लेषण समाजशास्त्र है। चूंकि समाजशास्त्र का उद्देश्य ‘व्यक्तिवादिता’ पर ‘सामूहिकता’ का वर्चस्व स्थापित करना है अतः समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों की उपादेयता तभी स्थापित होती है जब प्रत्येक इकाई अर्थात् व्यक्ति इस तर्क को स्वीकारे कि सामूहिकता के बिना उसका कोई अस्तित्व नहीं है। लेखक का यह तर्क इस प्रश्न का भी उत्तर है कि हम समाजशास्त्र क्यों पढ़ें ? सामूहिकता में चूंकि प्रत्येक की शक्ति निहित है अतः प्रत्येक सामूहिकता के उस शक्तिशाली स्वरूप को सामाजिक क्रियाओं में अभिव्यक्त करना आवश्यक है। समानता, स्वतंत्रता, न्याय, लोकतंत्र, सांस्कृतिक बाहुल्यता की स्वीकृति, निर्णयों में पारस्परिक सहभागिता एवं श्रम के प्रति प्रतिबद्धता के अवयव सामूहिकता की शक्ति की रचना करते हैं जिनका व्यक्तित्व में आन्तरीकरण आवश्यक है। शोषण, निरंकुशता, पूर्वाग्रह एवं उत्पीड़न सामूहिकता की शक्ति का निषेध है अतः इनकी वैधताओं के तर्क को समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों में पराजित करने की आवश्यकता है। यह पक्ष इस प्रश्न का उत्तर देता है कि कैसा समाजशास्त्र पढ़ा जाए ? हम पाठ्यपुस्तकों में यदि इन प्रश्नों का उत्तर जान पाते हैं तो शिक्षण की प्रक्रिया सामाजिक सार्थकता ग्रहण करती है- अन्यथा ऐसी पाठ्यपुस्तकें अनुपयोगी हो जाती हैं, भले ही वे शिक्षाविदों, प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों के मध्य कितनी ही लोकप्रिय क्यों न हों। समाजशास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन हमें सामाजिक रूपान्तरण से व्यवस्थित रूप में परिचित कराता है। अतः अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास, दर्शन एवं मनोविज्ञान की बारीकियों तथा जन संघर्षों के उतार-चढ़ावों को आलोचनात्मक दृष्टि से समझना हमारे लिए आवश्यक है ताकि रूपान्तरण में सक्रिय शक्तियों एवं प्रतिरोधी शक्तियों की भूमिकाओं को जाना जा सके। इस दृष्टि से समाजशास्त्र मनुष्य के सृजनशील पक्षों की व्याख्या करते-करते सामाजिक रूपान्तरण को जानने का एक प्रभावी दस्तावेज बन जाता है। समाजशास्त्र को इस भूमिका के कारण प्राथमिक कक्षाओं से ही पढ़ाया जाना आवश्यक है ताकि विद्यार्थी परिवार एवं समाज के अन्तर्विरोधी संबंधों से पनपने वाले परिवेश से परिचित हो सके।

सामाजिक यथार्थ के अनेक स्तर हैं जो दृश्य एवं अदृश्य हो सकते हैं, यथार्थ की संरचना में अनेक छोटे एवं बृहद् अवयव सम्मिलित होते हैं अतः इन्हें गहराई से समझने के लिए प्राथमिक शिक्षा के स्तर से ही चर्चा अपेक्षित है। यहां यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि समाजशास्त्र कैसे पढ़ा जाए ? (या कैसे पढ़ाया जाए ?) अर्थात् समाजशास्त्र की शिक्षा का पद्धतिशास्त्र कैसा हो ? (अथवा समाजशास्त्र का शिक्षाशास्त्र कैसा हो?)। विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय के स्तरों पर शिक्षकों के लिए पद्धतिशास्त्र/शिक्षाशास्त्र की दो सम्भावनाएं स्पष्ट रूप से उभरती हैं। पाठ्यपुस्तक की प्रकृति के आधार पर शिक्षक पढ़ाने की प्रक्रिया (अर्थात् पद्धतिशास्त्र/शिक्षाशास्त्र) को निर्धारित करे या फिर सामाजिक यथार्थ, जैसा कि शिक्षक ने अपने अनुभवों से जाना एवं परखा है, को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से संबद्ध कर विद्यार्थियों को प्रेषित करे, उस सामाजिक यथार्थ को विद्यार्थियों ने कैसे (अनुभव या प्रदान की गई दृष्टि) समझा है, को जानकर शिक्षक उसे समाजशास्त्रीय दृष्टि दे और विद्यार्थियों को प्रेषित करे। शिक्षक एवं विद्यार्थी के मध्य पनपे ये विषय-केन्द्रित विमर्श पाठ्यपुस्तकों की विषयसामग्री का कालान्तर में अंग बनें। दूसरे शब्दों में पद्धतिशास्त्र/शिक्षाशास्त्र की प्रकृति के द्वारा पाठ्यपुस्तकों की रचना को सुनिश्चित किया जावे। संस्कृति/ज्ञान के उत्पादन या पुनरोत्पादन की इन प्रक्रियाओं से पाठ्यपुस्तकों को समझने का आधार प्राप्त किया जा सकता है। यहां यह सवाल भी महत्वपूर्ण बन जाता है कि समाजशास्त्र का पाठ्यक्रम क्या है ? और इस हेतु प्रकाशित की गई पाठ्यपुस्तक उस पाठ्यक्रम की ऐतिहासिकता, समकालीनता एवं भावी प्रवृत्तियों को किस सीमा तक समेट पाने में सफल हो पाई है ? समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों के ‘सामाजिक संसार’ की रचना के यही आधार हैं जो ‘पाठ्यपुस्तकों के समाजशास्त्र’ की शाखा को उत्पन्न कर सकते हैं। यदि पाठ्यपुस्तकों का ‘सामाजिक संसार’ ऐसा नहीं है तो पाठ्यपुस्तक नीरस हो जाती हैं और इस अवसर का लाभ उठाकर शिक्षा की बाजारवादी शक्तियां ‘सहायक पुस्तकों’ (पास बुक्स) का उत्पादन करती हैं जिनका उद्देश्य परीक्षा उत्तीर्ण करना है। परीक्षा का उद्देश्य विषय से पृथक होकर ‘प्रश्नों’ में सिमट जाता है अर्थात् परीक्षा ‘ज्ञान’ की परख न होकर उस ‘स्कल’ (कुशलता ?) की परख हो जाती है जिनसे अंकों की प्राप्ति अधिकतम हो सके। परीक्षा प्रणाली, ज्ञान की उपलब्धता एवं प्रतियोगी बाजारवाद के अन्तःसंबंधों का इस संदर्भ में समाजशास्त्रीय विश्लेषण किए जाने की आवश्यकता है। आलोचनात्मक समाजशास्त्रीय दृष्टि से 21वीं शताब्दी ‘नव्य जन संघर्षों/सामाजिक आंदोलनों का प्रारम्भ है क्योंकि पूंजीवादी प्रणाली एवं उसे विकासशील राज्यों तक वर्चस्व स्वरूप देने वाला बाजार गहरे संकट का शिकार

हुआ है। समूचा यूरोप आर्थिक मंदी के अप्रत्याशित दौर का हिस्सा बन गया है। नेपाल, लातिन अमेरिकी देशों एवं अल सल्वाडोर में पूंजीवाद विरोधी वैकल्पिक राजनीति की स्थापना इस तथ्य की स्थापना कर सकती है कि पाठ्यपुस्तकों के विशेषतः समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों के चरित्र को बदलने की आवश्यकता है। वर्तमान पाठ्यपुस्तकें एक सीमा तक समाजशास्त्र/समाज विज्ञानों के सीमान्तीकरण हेतु उत्तरदायी हैं। सीमान्तीकरण एवं उपेक्षा के इस पक्ष को परिवर्तित प्रकृति की पाठ्यपुस्तकें ही समाप्त कर सकती हैं।

II

पाठ्यपुस्तकों की समूची रचना एवं संबद्ध लेखकों की उस विषय से संबद्ध चेतना तथा कक्षाओं में शिक्षकों द्वारा पाठ्यपुस्तकों में दिए गए ज्ञान (?), विचार (?) एवं सूचनाओं के आधार पर भाषण के अवयवों से मिलकर 'वर्णनात्मक शिक्षा' का वह प्रत्यय बनता है जिसका उल्लेख पाओलो फ्रेरे ने किया है। विद्यार्थी इन सबको रटता है। फ्रेरे इस प्रणाली को 'बैंकिंग प्रणाली' के समकक्ष रखते हैं। विद्यार्थी शिक्षकों द्वारा प्रेषित पुस्तक केन्द्रित ज्ञान (जो कक्षाओं में पुनः उत्पादित किया जाता है) को अपनी ज्ञान राशि में जमा करता जाता है और परीक्षा के अवसर पर उस 'जमा' को निकालकर निवेश करता है ताकि परीक्षक उस निवेश पर 'अंकों' का लाभ वितरित कर सके।¹ लेखक, विषय की प्रस्तुति, पाठक/विद्यार्थी एवं प्रकाशक की विभिन्न प्रकृति के आग्रह पाठ्यपुस्तकों की संरचना में योगदान करते हैं। लेखक एवं शिक्षार्थियों की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा वर्चस्व के विचारों की लेखक से संबद्धता भी पाठ्यपुस्तकों की प्रकृति को निर्धारित करती है। इसके परिणाम स्वरूप विद्यार्थी की ज्ञान राशि में जो कुछ भी जमा हो रहा है उसमें उस विद्यार्थी का सम्भवतया कुछ भी नहीं है। पाठ्यपुस्तक लेखन में लेखक अपने ज्ञान एवं विवेक को सामान्यतया महत्त्व नहीं देता और विभिन्न सूचनाओं को व्यवस्थित या क्रमबद्ध रूप देकर ज्ञान की रचना कर देता है। स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर पर इस प्रकार की पाठ्यपुस्तकों के आधार पर कक्षाओं में अन्तःक्रिया शिक्षा प्रणाली को न केवल अनुपयोगी बना देती है अपितु विद्यार्थियों को रूपान्तरण के प्रति तटस्थ अथवा उसका विरोधी बना देती है। ऐसी पुस्तकें समाजशास्त्र जैसे जटिल, रुचिकर एवं गतिशील विषय को अति सरल, नीरस एवं अर्थहीन विषय बना देती हैं। वस्तुतः इन पाठ्यपुस्तकों ने समाजशास्त्र को सामान्य समझ (कॉमन सेन्स) में परिवर्तित कर दिया है। पाठ्यपुस्तक लेखन का यह पक्ष लेखन प्रक्रिया का परिणाम नहीं है। परीक्षा को उर्तीण करना पाठ्यपुस्तकों का उद्देश्य है और यह लेखन बाजार की शर्तों एवं सत्ता शक्तियों के दबाव से सुनिश्चित होता है। काल एवं परिवेश से संबद्ध

'बौद्धिक समझ' की इन पाठ्यपुस्तकों में उपेक्षा की जाती है। लेखक का मानना है कि ऐसी पाठ्यपुस्तकें संस्कृति के सृजनशील पक्ष का कहीं भी प्रतिनिधित्व नहीं करती। दूसरे शब्दों में ये पाठ्यपुस्तकें 'आशा का स्रोत' नहीं हैं और कहीं भी विद्यार्थियों एवं समाज के पक्ष में खड़ी नजर नहीं आती। इन पाठ्यपुस्तकों में जीवन दृष्टि का नितान्त अभाव नजर आता है। ऐसी पाठ्यपुस्तकें अमेरिका सहित अनेक देशों से सत्तर एवं अस्सी के दशक में समाज विज्ञानों के क्षेत्र में प्रकाशित हुईं। सम्भवतया समाज विज्ञानों में प्राकृतिक विज्ञानों के पद्धतिशास्त्रीय प्रयोग का यह अर्थ भी लगाया गया कि समाज वैज्ञानिकों को तटस्थता के साथ विवेचनाएं करनी चाहिए अर्थात् किसी भी विचारक ने यदि कोई मत प्रस्तुत किया है तो उसे बिना किसी दृष्टिकोण के 'जैसा कहा गया है' प्रस्तुत कर दो। अर्थात् विभिन्न मतों को सूचनाएं बना दो और उन्हें पुस्तक में दिए जा रहे ज्ञान के आकार का भाग बना दो। प्रौद्योगिकी के उपायोग ने इन पाठ्यपुस्तकों के कलेवर को तो आकर्षक बना दिया पर उन्हें आलोचनात्मक दृष्टि एवं ज्ञान के विस्तार के लेखकीय प्रयासों से दूर कर दिया। परिणाम प्रत्येक समाज के सम्मुख है। प्रत्येक स्तर के विद्यार्थी को सांस्कृतिक विविधता, संरचनात्मक बाहुल्यता, सैद्धान्तिक एवं वैचारिक दृष्टि से समझ जो समाजों को वैज्ञानिक संदर्भों में समझने के लिए जरूरी है तथा पद्धतिशास्त्रीय कुशलता के पक्षों से मूल्यांकित किया जाए तो निराशा होती है। इस निराशाजनक स्थिति हेतु विद्यार्थी दोषी नहीं हैं क्योंकि पाठ्यपुस्तकें न तो विचारों का इतिहास हैं और न ही विचारों की समकालीनता की अभिव्यक्ति करती हैं। प्रत्येक समाज का इतिहास उन मानवीय प्रयासों का समुच्चय है जो समाज को निरन्तर परिवर्तन एवं गतिशीलता से जोड़ता है। साथ ही उस 'सातत्य' को भी समझा देता है जो अनेक बदलावों के बावजूद अपनी अर्थपूर्णता को बनाए हुए है। यदि हमारा लक्ष्य एक समतावादी, लोकतान्त्रिक, न्यायोचित एवं मानवीय मूल्यों से निर्देशित समाज व्यवस्था की रचना करना है तो विभिन्न प्रकृति के उपयुक्त विचारों को पाठ्यपुस्तकों में स्थान देना और उन्हें बहस के रूप में प्राथमिकता देना अनिवार्य हो जाता है। पाठ्यपुस्तकों में प्रस्तुति इस स्वरूप के अन्तर्गत आवश्यक है अन्यथा लेखकों की विचार शून्यता इससे परिलक्षित होती है जो इन पाठ्यपुस्तकों का प्रयोग करने वाले शिक्षकों एवं संबद्ध विद्यार्थियों को विचारहीनता की तरफ ले जाती हैं और यथास्थितिवाद का तर्क स्वीकृति प्राप्त कर लेता है। ऐसी पाठ्यपुस्तकों से रूढ़िवादिताओं पर प्रहार नहीं किया जा सकता। शायद ऐसी पाठ्यपुस्तकों के वर्चस्व के कारण उत्तर औपनिवेशिक भारत में सामाजिक सुधार आन्दोलनों की गति मन्द हो गई, रूपान्तरण के विचार महत्त्व प्राप्त नहीं कर सके और सामाजिक संस्तरण तथा विषमताएं नवीन वैधता प्राप्त करती गईं।

इस स्थिति ने भारत में उस कट्टरपंथता को विस्तार दिया जो लोक परम्पराओं एवं इहलौकिकता से निर्देशित जीवन पद्धतियों पर समान रूप से प्रहार करता है। यह गुजरात में एक शायर की कब्र को तबाह कर लोक परम्पराओं को नकार देती है वहीं दूसरी तरफ महिलाओं, विशेषतः कार्यशील महिलाओं की आधुनिक और उपयुक्त जीवन शैली में अवरोध उत्पन्न कर देती है। पाठ्यपुस्तकों का वर्तमान स्वरूप विघटन के उपरोक्त पक्षों को उत्पन्न करने का एक महत्वपूर्ण कारण है। ये पाठ्यपुस्तकें मेरी दृष्टि में नव्य उदारवादी प्रारूप के अन्धानुकरण का भी कारण बनी हैं क्योंकि इन पाठ्यपुस्तकों ने आलोचनात्मक दृष्टि को समाप्त कर दिया है। लेखक की चिन्ता इस तथ्य को लेकर भी है कि फ्रांसीसी क्रान्ति, औद्योगिक क्रान्ति एवं रूसी क्रान्ति के समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास पर हुए प्रभावों को इन पाठ्यपुस्तकों में, विशेषतः हिन्दी भाषा में लिखी पाठ्यपुस्तकों में, स्थान नहीं दिया गया। औपनिवेशिक भारतीय समाज के विभिन्न यथार्थ भारतीय समाजशास्त्र एवं भारत में समाजशास्त्र को किस प्रकार प्रभावित कर सके, की विवेचना एवं विश्लेषण का अभाव इन पाठ्यपुस्तकों में नजर आता है। वस्तुतः समाजशास्त्र की हिन्दी भाषा की पाठ्यपुस्तकें अंग्रेजी की समाजशास्त्र की संदर्भ पुस्तकों एवं कुछ स्तरीय कही जाने वाली पाठ्यपुस्तकों का आधा-अधूरा सूचना परक अनुवादों का संकलन है जिसमें विषय (टेक्सट) एवं संदर्भ (कॉन्टेक्स्ट) दोनों ही उपयुक्तता की दृष्टि से गायब हैं। समाजशास्त्र की इन पाठ्यपुस्तकों के आधार पर विद्यार्थी 'सामाजिक' का अर्थ भी आधा-अधूरा ही समझ पाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से सामाजिक विश्व अनेक अन्तर्विरोधों का प्रतिनिधित्व करता है। 'आदर्श' एवं 'वास्तविक' की द्वन्द्वत्मकता एवं 'शक्तिशाली' तथा 'सीमान्त' के संघर्ष एवं (दवाबमूलक) सहयोग सामाजिक विश्व का महत्वपूर्ण भाग हैं। समाजशास्त्र की इन पाठ्यपुस्तकों में यह 'सीमान्त' कहीं नजर नहीं आता। 'आदर्श' को वांछनीय बनाकर इन पाठ्यपुस्तकों में केन्द्रीय स्थान दिया जाता है। अनुसूचित जाति, जनजाति, बालक/बालिकाएं, ग्रामीण क्षेत्र, निम्नवर्ग, निम्न वर्गों की नगरीय बस्तियां, अनौपचारिक क्षेत्रों के श्रमिक, महिलाएं इत्यादि सीमान्त श्रेणियों की एवं इनके जीवन की जटिलताओं (विकास में योगदान सहित) की चर्चा इन पुस्तकों में आंशिक रूप में (उच्च वर्गीय दृष्टिकोण के साथ) उपस्थित हैं। समाजशास्त्र एक अन्तःअनुशासनात्मक परिप्रेक्ष्य के साथ इन पुस्तकों में कहीं भी नजर नहीं आता। भारतीय समाज से संबद्ध पाठ्यपुस्तकों की स्थिति तो और भी खराब है। विचारों की असंगतता इन पाठ्यपुस्तकों की महत्वपूर्ण विशेषता है जो 'लेखन विधा' के अभाव को दर्शाती है। परिमाणमात्मक पक्षों की प्रस्तुति भी त्रुटिपूर्ण होती हैं। पाठ्यपुस्तकों की इन शैलियों को नकारना आवश्यक है। अपने इन विभिन्न तर्कों

को सिद्ध करने के प्रयास में, मैं आपके सम्मुख कुछ पाठ्यपुस्तकों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करूंगा। ये पाठ्यपुस्तकें मूलतः राजस्थान के उच्च माध्यमिक स्तर (कक्षा-11 एवं कक्षा-12) से संबद्ध हैं। साथ ही कुछ ऐसी पाठ्यपुस्तकें भी सम्मिलित की गई हैं जो स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर पर विद्यार्थियों के मध्य लोकप्रिय हैं और जिनका अध्ययन करने का सुझाव विद्यार्थियों को शिक्षकों के एक बड़े भाग द्वारा दिया जाता है। मैं इन पुस्तकों की चर्चा के पूर्व भारत के सर्वाधिक विकसित राज्यों में से एक गुजरात के 'गुजरात स्टेट बोर्ड ऑफ स्कूल टेक्सट बुक्स' द्वारा स्वीकृत एवं प्रकाशित समाजशास्त्र की कक्षा 11 एवं 12 की पुस्तकों की तरफ आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा। मुझे गुजराती भाषा नहीं आती, समूचे अहमदाबाद में मुझे हिन्दी भाषा में पुस्तकें उपलब्ध नहीं हुईं हालांकि स्टेट बोर्ड हिन्दी, मराठी, सिन्धी, उर्दू, तमिल एवं अंग्रेजी में अनुवाद हुई पुस्तकों के प्रकाशन का दावा करता है। अंग्रेजी में अनुदित पुस्तकें बहुत मुश्किल से उपलब्ध हो सकीं। स्थानीय भाषा के प्रति इस प्रकार की प्रतिबद्धता 'गुजराती अस्मिता' की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है। प्रत्येक पुस्तक के चार-चार लेखक हैं। अनुवादक भी दो-दो हैं, साथ ही अनुवाद का पुनः परीक्षण करने वाले भी दो-दो विद्वान साथी हैं। एनसीईआरटी सहित प्रत्येक राज्य में पुस्तक लेखन सामूहिक प्रयास एवं सामूहिक दायित्व का भाग बना है। यह प्रयास विषय के चरित्र को पुस्तक में विविधतामूलक बनाता है परन्तु साथ ही अनेक अनसुलझे सवालों को जन्म देता है। राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की पुस्तकों की भी यही स्थिति है।

III

गुजरात बोर्ड की समाजशास्त्र की कक्षा 11 की पुस्तक अनेक भाषायी त्रुटियों, अवधारणात्मक भ्रमों एवं विचार संबंधी संदेहों को सम्मिलित करती हैं। यही स्थिति कक्षा 12 की पुस्तकों की है। कक्षा 11 की पुस्तक में 11 एवं कक्षा 12 की पुस्तक में 18 अध्याय हैं।² दोनों कक्षाओं में एक-एक पुस्तक ही अध्ययन का भाग है जबकि एनसीईआरटी एवं राजस्थान में कक्षा 11 एवं 12 में दो-दो पुस्तकें अध्ययन का भाग हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से व्यापक अन्तर है जो विद्यार्थियों की चेतना में अन्तर स्थापित कर ज्ञान की संस्तरणात्मकता का संकेतक बन जाता है। गुजरात के उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थी एनसीईआरटी एवं राजस्थान के विद्यार्थियों से काफी पीछे हैं। राजस्थान एवं गुजरात की समाजशास्त्र की पुस्तकें विद्यार्थियों में विषय के प्रति रुचि उत्पन्न नहीं करतीं और न ही विद्यार्थियों को प्रश्न पूछने के लिए प्रस्तुत करती हैं। आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र को तो छोड़िए, इन पुस्तकों को, विशेषतः गुजरात की पुस्तकों को; तो

विवरणात्मक शिक्षाशास्त्र का प्रतिनिधि भी नहीं कहा जा सकता। मूल्यांकन की दृष्टि से यदि गुजरात बोर्ड की कक्षा 11 की समाजशास्त्र की पुस्तक को सर्वप्रथम लिया जाए तो यह समाजशास्त्र की उत्पत्ति का वर्ष 1824 बताती है (पृष्ठ-1) जबकि अगले पृष्ठों पर यह वर्ष 1838 बताया गया है, जो सच है। फ्रांस की क्रान्ति व औद्योगिक क्रान्ति के समाजशास्त्र की उत्पत्ति व विकास से संबंधों पर यह मौन है। औद्योगिक क्रान्ति के कुछ परिणामों की चर्चा अवश्य है पर उसे विषय के साथ जोड़ने में यह पुस्तक असफल है।

समाजशास्त्र की दो परिभाषाएं दे दी गई हैं पर उनकी विवेचना नहीं है। समाजशास्त्र की मूल अवधारणाओं को लेखकों ने विवादास्पद बनाया है। समाज, समुदाय, समूह, वर्ग, जाति, प्रस्थिति, भूमिका इत्यादि अवधारणाओं का विवेचन उनके वास्तविक एवं स्वीकृत अर्थों से भिन्न है। 'सामाजिक स्टेन्डर्ड' की अवधारणा मैने कहीं नहीं पढ़ी। स्टेन्डर्ड्स को नियमों की संज्ञा देकर भ्रम उत्पन्न किया गया है। ठीक इसी तरह संस्कृति के अर्थ को अध्याय दो में जटिल बना दिया गया है जो किसी भी विद्यार्थी की समझ के परे हो सकती है। टायलर की परिभाषा (संस्कृति संबंधी) के परीक्षण की चर्चा अध्याय के प्रारम्भ में की गई है पर उसे समझाया नहीं गया है (पृष्ठ-17) पृष्ठ-28 पर पति-पत्नी के संबंधों में परिवर्तन का मुख्य बिन्दु (शीर्षक) तो दिया गया है पर इस बिन्दु के विवेचन के अन्तर्गत पति-पत्नी संबद्धता कहीं भी नहीं दी गई है। अध्याय चार में भाई एवं बहिन के मध्य दूरी मूलक संबंधों में यह कहा गया है कि कुछ जनजातियों में भाई-बहिन के मध्य बातचीत मध्यस्थ के माध्यम से होती है पर एक भी जनजाति का उदाहरण नहीं दिया गया है। अध्याय पांच में आर्थिक व्यवस्था, आर्थिक संस्था एवं आर्थिक संगठन को अन्तःपरिवर्तित अवधारणाओं के रूप में प्रस्तुत कर विद्यार्थी को असमंजस का शिकार बनाया गया है। समाज में कानून-व्यवस्था बनाए रखने हेतु विद्यमान औपचारिक संगठन को राजनीतिक संस्था के रूप में प्रस्तुत किया गया है। धर्म एवं शिक्षा संस्थाओं की व्याख्याओं में भी अनेक असंगतताओं को देखा जा सकता है। अध्याय सात में लेखक विद्यार्थियों को क्या प्रेषित करना चाहते हैं, अस्पष्ट है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से हिन्दू को समुदाय बताना अवधारणात्मक दृष्टि से गलत है (पृष्ठ-60)। लेखकों को यह तर्क, कि प्रारम्भ का भारतीय समाज वर्ग संरचना पर आधारित था जो कालान्तर में जाति व्यवस्था में रूपान्तरित हो गया, न केवल विवादास्पद है अपितु तथ्यपरक भी नहीं है। पृष्ठ-62 पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों को वर्ग के चार प्रकार बताया गया है जो बाद में जाति का स्वरूप बन गए। इस अध्याय में पृष्ठ-63 पर अचानक वर्ग आर्थिक प्रघटना बन जाती है और परिवार को वर्ग की इकाई

बता दिया गया है। गुजरात की जनजातियों का उल्लेख करते हुए जनजातियों को जंगल वासी (Forest Dwellers) गिरिजन, आदि जाति, आदिमजन (Primitive People), पिछड़े हिन्दू की संज्ञा दी गई है। जनजातियों को 'पिछड़े हिन्दू' बताना एक विवादास्पद तर्क है जिसे जी. एस. घूरिये ने दिया था। यदि इस विवाद की चर्चा की जाती तो उपयुक्त होता अन्यथा समूची जनजातियों को 'पिछड़ा हिन्दू' कहना 'हिन्दुकरण' की प्रक्रिया को वैधता प्रदान करता है। यह तर्क ठीक उस तरह दिया जा सकता था। जैसा कि लेखकों ने नर्मदा आन्दोलन के पक्ष व विपक्ष के संदर्भ में दिया है (पृष्ठ-86)। कुल मिलाकर यह पुस्तक विद्यार्थियों को समाजशास्त्र की भ्रामक, अधूरी एवं त्रुटिपूर्ण जानकारी देती है और उन्हें समाजशास्त्र विषय के प्रति अरुचिपूर्ण बना सकती है।

कक्षा 12 की समाजशास्त्र की पुस्तक 18 पाठों के माध्यम से विद्यार्थियों को भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों से परिचित कराती है। यह पुस्तक भी भ्रम, त्रुटियों एवं अस्पष्टता का समग्र है। पाठ-1 में मुगल, पारसी, डच, फ्रेंच एवं ब्रिटिशर्स को प्रजातियों की संज्ञा दी गई है। लेखकों का मत है कि कुल मुसलमान, जो विश्व में रहते हैं का सबसे बड़ा भाग भारत में निवास करता है। लेखकों का यह मत त्रुटिपूर्ण है। इंडोनेशिया एवं पाकिस्तान के बाद भारत का इस संदर्भ में स्थान आता है। प्रथम अध्याय अनेक विवादास्पद विचारों को प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए, '20वीं शताब्दी' के मध्य में पाकिस्तान एवं बांग्लादेश जैसे देश अस्तित्व में आए सिवाय इसके हमारा देश सदैव एक (intact) रहा है' (पृष्ठ-4)। इस वाक्य का अर्थ क्या है ? कहा नहीं जा सकता। पाठ-2 में जनसंख्या के आंकड़ों में अनेक तथ्यों की उपेक्षा की गई है। गुजरात के अनेक आंकड़ों (जैसे लैंगिक अनुपात) को सम्मिलित नहीं किया गया है। यह पाठ असंतुलन की विशेषता का प्रतिनिधित्व करता है। पांचवे अध्याय में प्रत्येक धार्मिक समूह को 'धार्मिक समुदाय' कह कर समुदाय की समाजशास्त्रीय अवधारणा को त्रुटिपूर्ण बना दिया गया है। पुस्तक का प्रकाशन 2005 में हुआ है पर अनेक सूचनाओं को 1991 की जनगणना से लिया गया है (पृष्ठ-42)। पुस्तक मुख्यतः भारतीय समाज के अध्ययन से संबद्ध है पर सांप्रदायिकता, क्षेत्रवाद, भाषावाद, जातिवाद, पारिवारिक हिंसा, सामाजिक विषमताओं जैसी प्रघटनाओं की उपेक्षा की गई है। सन् 2002 में गुजरात में हुए सांप्रदायिक दंगों एवं संबद्ध नरसंहार, सिख विरोधी दंगों, सामाजिक बहिष्करण के विभिन्न स्वरूपों पर इन पुस्तकों में चर्चा नहीं की गई है। राज्य, शिक्षा एवं पुस्तक लेखकों के मध्य की संबद्धता इससे स्पष्ट हो जाती है। ये दोनों पुस्तकें अकादमिक निराशा उत्पन्न करती हैं। पुस्तकें यदि आलोचनात्मक न हों तो वे विद्यार्थियों के ज्ञान को

अपूर्ण एवं एकांगी बनाती हैं और ऐसा ज्ञान विद्यार्थियों को 'स्थानीय संकीर्णतावाद' का अंग बनाता है। स्थानीय संकीर्णतावाद के प्रति उत्पन्न किया गया यह रुझान गौरव व अस्मिताओं की आक्रामकता के उभार का आधार बन जाता है।

IV

राजस्थान की कक्षा 11 एवं कक्षा 12 की समाजशास्त्र की पुस्तकें भी अनेक अवधारणात्मक भ्रमों को जन्म देती हैं। समाजशास्त्र की पुस्तकों के इस प्रकार के लेखन समाज विज्ञानों के मूल चरित्र पर आक्रमण है जो विद्यार्थियों की चेतना विकास की प्रक्रिया के साथ राज्य सरकारों एवं पुस्तक लेखकों के द्वारा किया गया क्रूर मजाक है। इन राज्यों के विद्यार्थियों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पृथक करने की यह कोशिश है। राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की कक्षा 11 की समाजशास्त्र की प्रथम प्रश्न पत्र की पुस्तक का मुख पृष्ठ हिन्दुत्व के प्रतीकों से सज्जित है। पुस्तक चार लेखकों के संयुक्त प्रयासों का फल है। प्रथम पुस्तक में 10 अध्याय सम्मिलित हैं। गुजरात की भांति राजस्थान की यह पाठ्यपुस्तक विद्यार्थियों को प्रश्न पूछने के लिए प्रेरित नहीं करती। पुस्तक में त्रुटियों का समावेश है। यह सबको ज्ञात है कि विषय के रूप में समाजशास्त्र 1938 में फ्रांस में आगस्त कोंत के विचारों से उत्पन्न हुआ है। इस पुस्तक के बारे में लेखकों का विचार है कि 'इस विषय (समाजशास्त्र) से हमारा परिचय कोई 200 वर्ष पुराना ही है जब अगस्त काम्पे ने इसे एक पृथक विज्ञान के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया' (पृष्ठ-2)। इस आधार पर तो समाजशास्त्र की उत्पत्ति 1806 के आस-पास हो जाती है। जबकि इसी पृष्ठ पर प्रारम्भ में 1838 में समाजशास्त्र की उत्पत्ति का उल्लेख है। इस पाठ में समाजशास्त्र की सात परिभाषाओं का बिना व्याख्या के उल्लेख है। साथ ही ये सभी परिभाषाएं 1960 के दशक के आस-पास की हैं। पर यह पुस्तक समाजशास्त्र में प्रयुक्त हुई अवधारणाओं की अस्पष्टताओं से एक बड़ी सीमा तक मुक्त है जिसका गुजरात की पुस्तकों में लगभग अभाव है। पर राजस्थान की पुस्तकें हिन्दुत्ववादी सोच को सम्मिलित कर विद्यार्थियों की चेतना को विभाजित करती हैं। विश्व के प्रमुख धर्मों का उल्लेख करते हुए जैन, बौद्ध एवं सिक्ख धर्म को हिन्दू धर्म की शाखा बताना एवं केवल हिन्दू धर्म के पूर्व 'महान' का विशेषण लगाना (पृष्ठ-113-14) इस मानसिकता का द्योतक है। शिक्षा की व्याख्या में दुरखाइम, मार्क्स व टैगोर का उल्लेख न होना समाजशास्त्र के विद्यार्थी को चौंका सकता है। पुस्तक में विषयवस्तु अत्यधिक है जो विद्यार्थी पर भार डालती है। विषय सामग्री की प्रस्तुति चूँकि रुचिकर नहीं है अतः विद्यार्थी को कक्षाओं के प्रति तटस्थ बना देती है। यह स्थिति लगभग प्रत्येक पुस्तक की है। कक्षा 12 की समाजशास्त्र

की द्वितीय पुस्तक अनेक विवादों को सामने लाती है। "राजनीति एवं प्रशासन में आरक्षण के कारण अनुसूचित जातियां सवर्णों से बदले की भावना से मुकाबले की शक्ति के रूप में उभर रही हैं जिससे समाज में तनाव एवं संघर्ष उत्पन्न हुए हैं जो किसी भी दृष्टि से राष्ट्रीय हित में नहीं है" जैसा मत लेखकों का व्यक्तिगत पूर्वाग्रह है जो विद्यार्थियों में आरक्षण एवं सामाजिक न्याय के मूल्य के विरुद्ध चेतना उत्पन्न करता है। पुस्तक में संघ परिवार के विभिन्न अंगों को समस्याओं के समाधान एवं सुधार प्रक्रिया में संलग्न बताया गया है (राष्ट्र सेविका समिति का महिला समस्याओं के निराकरण में उल्लेख, पृष्ठ-107)। राजस्थान में स्वीकृत समाजशास्त्र की पुस्तकों के हिन्दुत्ववादी स्वरूप का उल्लेख हम इस पत्रिका में पूर्व में प्रकाशित अनेक लेखों में कर चुके हैं। ये पुस्तकें हर प्रकार के 'ठहराव' के साथ जुड़कर विद्यमान 'सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था' को वैधता प्रदान कर देती है और इस यथास्थितिवादी चेतना को विद्यार्थियों को प्रेषित कर देती हैं। राज्य सरकारें यह सब कुछ जानती हैं पर बदलाव पर जोर नहीं देती क्योंकि इन्हें गुजरात व राजस्थान का सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचा अपने वर्गीय हितों के अनुरूप नजर आता है।

V

राजस्थान व गुजरात की समाजशास्त्र की ये पुस्तकें सफदर हाशमी के सपनों की पुस्तकें नहीं हैं। ये पुस्तकें सामाजिक सच एवं वास्तविकताओं तथा विषय की भाषा पर लगातार प्रहार करती हैं। समाज के विकास की मंजिल एवं 'न्याय समाज' की स्थापना की तरफ ये पुस्तकें विद्यार्थियों को नहीं ले जातीं। विश्वविद्यालयों में लोकप्रिय पाठ्यपुस्तकों की भी यही स्थिति है। ये पुस्तकें आलोचनात्मक क्षमताओं के अभाव को व्यक्त करती हैं और इस कारण समाज विज्ञानों की भूमिकाओं पर सवालिया निशान लगा देती हैं। ♦

टिप्पणी एवं संदर्भ

1. इस संपूर्ण विवेचन हेतु देखें, पाओलो फ्रेरे (1997), उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली; पृष्ठ-33-34
2. गुजरात स्टेट बोर्ड ऑफ स्कूल टेक्सट बुक्स, विद्यायन, सेक्टर 10-ए, गांधीनगर द्वारा सन् 2004 एवं 2005 में प्रकाशित सोशयोलॉजी स्टेन्डर्ड 11 एवं स्टेन्डर्ड 12 से संबद्ध प्रतिक्रियाएं।
3. माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान, अजमेर द्वारा सन् 2006 में प्रकाशित 'प्रारम्भिक समाजशास्त्र' (कक्षा 11) एवं 'भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक समस्याएं' (कक्षा 12) से संबद्ध प्रतिक्रियाएं।